

# भगवद्गीता: भारतीय संस्कृति का जीवन-ग्रन्थ

प्रो० ( डॉ० ) श्रीमति शालिनी

संस्कृत विभाग, श्री अरविन्द महिला कॉलेज, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना।

## सारांश

भगवद्गीता एक अनुपम ग्रन्थ है। प्रायः इस ग्रन्थ को गीता भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ के अनुसार मानवता दुनिया का सबसे बड़ा धर्म है। इसके अध्ययन से मानव जीवन से सम्बन्धित बहुत सारी जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। जीवन का सही मार्ग दिखाने वाला यह एकमात्र ग्रन्थ है। इसमें कहीं भी धार्मिक रीति-रिवाजों या धार्मिक कर्मकाण्डों का उल्लेख नहीं मिलता। जीवन-दर्शन का यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भारतीय दर्शन की सारी धाराएँ निरोपित कर दी गई हैं। जीवन को प्रभावित करने वाले सभी प्रश्नों के उत्तर इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। जीवन तथा जीवन-दर्शन का यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका कोई पंथ या मजहब नहीं होता। यह मानव जीवन को सम्पूर्णता में प्रकाशित एवं परिभाषित करता है। इसलिए यह एक जीवन ग्रन्थ है। राष्ट्र की सभी सीमाओं से परे विश्वमानव की धरोहर के रूप में इसे विश्व ग्रन्थ कहना अधिक उपयुक्त होगा।

गीता मानव जीवन को सम्पूर्णता में प्रकाशित एवं परिभाषित करती है। जीवन में उठनेवाले सभी प्रकार के प्रश्नों के उत्तर इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। जीवन-दर्शन का यह एक अमूल्य ग्रन्थ है, जिसका कोई पंथ या मजहब नहीं होता। इसके जीवनदायी आध्यात्मिक तत्व किसी व्यक्ति, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या देश के लिए न होकर सम्पूर्ण विश्व के समग्र मानव समाज के लिए संजीवनी का काम कर सकते हैं। ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिधारा को अपने में समेटे हुए यह ग्रन्थ मानव समाज को हताशा से आशा की ओर तथा अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने की प्रेरणा प्रदान करता है। वास्तविकता यह है कि यह एक धर्मग्रन्थ नहीं, एक जीवन ग्रन्थ है। इसमें कहीं पर भी न तो धार्मिक रीति-रिवाज का वर्णन मिलता है और न धार्मिक कर्मकाण्डों का ही। शायद इसीलिए आचार्य शंकर, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, संत विनोबा भावे, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे महान् मनिषियों एवं महापुरुषों ने इस ग्रन्थ की टीकायें लिखकर मानव समाज के लिए इस ग्रन्थ की महत्ता को प्रदर्शित करने का सफल प्रयास किया है।

गीता में समता को योग कहा गया है। “समत्वं योग उच्यते [गीता II,48]। कर्मयोग, ज्ञान योग और भक्ति योग-ये तीन ही योग हैं। मनुष्य कर्मयोग से जगत के लिए, ज्ञान योग से अपने लिए और भक्ति योग से ईश्वर के लिए उपयोगी हो जाता है। वास्तव में योग की आवश्यकता कर्म

में ही है। ज्ञान और भक्ति ये दोनों वास्तविक रूप से योग ही है। कर्म जड़ है, बाँधने वाला है और विषय है, इसलिए इसमें योग की आवश्यकता है। “योगस्थः कुरु कर्माणि” [गीता II,48]। अर्थात् योग में स्थित होकर कार्य करो। योगः कर्मसु कौशलम्” गीता II, 50]। योग के सिवाय कर्म कुछ नहीं है। दुरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनं जय” [गीता II, 49]। कर्तव्य भी कर्म करने से ही आता है इसलिए गीता में ‘योग’ शब्द विशेषकर “कर्मयोग” का ही वाचक आता है।

**कर्मयोग के दो विभाग हैं :-** कर्म विभाग और योग विभाग। कर्म विभाग में कर्तव्य परायणता है और योग विभाग में स्वाधीनता, निर्विकारता, असंगता एवं समता है। संसार में हमारा जो कर्तव्य होता है, वह दूसरे का अधिकार होता है। यानि व्यक्ति का जो कर्तव्य है, वह परिवार का, समाज का और संसार का अधिकार है। जैसे वक्ता का जो कर्तव्य है वह श्रोता का अधिकार है और श्रोता का जो कर्तव्य है वह वक्ता का अधिकार है। वक्ता बोलकर श्रोता के अधिकार की रक्षा करता है और श्रोता सुनकर वक्ता के अधिकार की रक्षा करता है। दूसरे के अधिकार की रक्षा करने का तात्पर्य है:- शरीर, वस्तु योग्यता और सामर्थ्य को अपना न समझकर, बल्कि दूसरों की समझकर उन्हें दूसरों की सेवा में अर्पित कर देना। गीता कर्म योग को ज्ञान योग की अपेक्षा विशेष मानती है।

“कर्मसंन्यासात् कर्म योगो विशिष्यते”

[गीता V, 2]

इसका कारण यह है कि ज्ञान योग के बिना तो कर्म योग हो सकता है:-

“कर्मणैव हि संसिद्धिधमास्थिता जनकादयः”।

[गीता III,20]

परन्तु कर्मयोग के बिना ज्ञान योग होना कठिन है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुखम् अप्तुमयोगतः

“योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणा अधिगच्छति॥”

[गीता V, 6]

उपरोक्त तथ्यों से विदित होता है कि गीता कर्मयोग और ज्ञान योग दोनों को समकक्ष और लौकिक बनाती है।

“ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम्”।

[गीता III, 3]

अर्थात् यदि ज्ञान का मार्ग किसी को उच्चतम मोक्ष तक ले जाता है, तो कर्म का मार्ग भी किसी को उच्चतम मोक्ष तक ले जायगा। यही दो मार्ग हैं और इन दोनों में से, “कर्म-योगो विशिष्यते” अर्थात् कर्म का मार्ग उच्चतर है। [ ibid 2] जो व्यक्ति इन्द्रियों को मन से नियन्त्रित एवं अनुशासित करता हुआ अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग में लग जाता है, वह श्रेष्ठत्व को प्राप्त करता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।

[गीता III 7]<sup>2</sup>

कर्मयोग के साथ-साथ प्रवृत्ति या बाह्य क्रिया और निवृत्ति अर्थात् आन्तरिक ध्यान पर भी ध्यान देना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, क्योंकि मानव कल्याण हेतु कर्म और ध्यान दोनों जरूरी हैं। प्रवृत्ति के द्वारा हम अपनी अर्थ व्यवस्था को सुधार कर एक कल्याणकारी समाज की स्थापना कर सकते हैं और निवृत्ति के द्वारा हम मूल्य-केन्द्रित जीवन प्राप्त करते हैं, जो मानवता के आन्तरिक-आध्यात्मिक आयास से उत्पन्न होता है। परन्तु प्रवृत्ति द्वारा बने समाज को निवृत्ति के अभाव में सुरक्षित रखना कठिन

होता है। हो सकता है कि प्रवृत्ति के द्वारा हम जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त कर लें, किन्तु निवृत्ति के अभाव में सब कुछ रहते हुए भी हमारा जीवन अशान्त एवं तनावग्रस्त हो जाता है। इसीलिए एक स्वस्थ समाज के गठन हेतु हमें सामुदायिक भाव से अपने कर्म को आगे बढ़ाते रहने की जरूरत है। इसीलिए शंकराचार्य कहते हैं:-

“प्राणिनाम साक्षात् अभ्युदय निः श्रेयस-हेतु”

अभि के बाद ‘उदय’ का अर्थ है: ‘कल्याण’ ‘अभि’ का अर्थ है: “एक साथ” अकेले नहीं। इसका अर्थ यह है कि सम्मिलित उद्यम के बिना कोई भी सामाजिक-आर्थिक विकास सम्भव नहीं है। हमें अपने जीवन तथा कार्य में तीन मूल्य अपनाने होंगे। कठोर परिश्रम, कर्मकुशलता और सहकारिता। प्रवृत्ति के द्वारा हमें अभ्युदय सीखना होगा तथा निवृत्ति द्वारा हमें निःश्रेयस का ज्ञान प्राप्त करना होगा। एक स्वस्थ समाज के गठन हेतु हमें सामुदायिक भाव से अपने कर्म को आगे बढ़ाते रहने की जरूरत है। गीता का भी यही उपदेश है कि ‘कार्यरत रहो’ क्योंकि कार्यक्षेत्र से पलायन करना शान्ति का पथ नहीं है।

गीता का मूल सिद्धान्त है: “अनासक्ति” और मुख्य शिक्षा है:- “अनासक्त” रहो। प्रबल कर्मशीलता गीता की एक महान् शिक्षा है। संसार में रहकर कार्य करते रहना और अपने कार्यों के शुभाशुभ फल ईश्वरार्पित कर देने से मानव दोषलिप्त नहीं होता। संसार में दो प्रकार के लोग पाये जाते हैं। भाग्यवादी और कर्मवादी। भाग्यवादी के अनुसार भाग्य को बदला नहीं जा सकता है। ऐसा करने के लिए वे प्रयास भी नहीं करते। परन्तु कर्मवादी व्यक्ति परिस्थितियों के आगे कभी नहीं झुकता, अपितु उसपर विजय पाने का हर सम्भव प्रयास करता है। ऐसे व्यक्तियों की मान्यता है कि जिन्दगी भर भाग्य का गुलाम बने रहना पलायनवाद की निशानी है। वास्तव में भाग्य और कर्म-ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वक्त कहें, कर्म कहें, भाग्य कहें, या कोई अन्य नाम दे दें- कर्म के सहस्र नाम हैं। सब कुछ करने वाला एक मन ही है। जो अच्छा काम करता है, उसका भाग्य भी चमकने लगता है। ऐसा कहा भी जाता है कि-

“ईश्वर उन्हीं की मदद करता है, जो स्वयं की

मदद करता है।”

गीता भी कर्मयोग का ही समर्थन करती है। कर्म से दूर भागनेवाले अर्जुन को श्री कृष्ण द्वारा कर्म करने हेतु प्रेरित किया गया है:-

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

### [ गीता, II, 47 ]

श्री कृष्ण के शब्दों में ही- “तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने मात्र में ही है, उसके फलों पर कभी नहीं। कर्म के फलों से तुम कभी प्रेरित न रहो और न तुम कर्म न करने के प्रति आसक्ति रखो। इसके फल तुम्हारे कार्यों की प्रेरणा नहीं होने चाहिए। कार्य निरन्तर करते रहो, अकर्मण्य मत बनो।” इस प्रकार यहाँ कर्म त्याग नहीं बल्कि फल त्याग की शिक्षा दी गई है।

किसी भी कार्य को ईमानदारी और सच्चाई से प्रयास करने से सफलता अवश्य ही प्राप्त होती है। मेहनत और तपश्चर्या से इंसान अनहोनी को होनी बना देता है। कल तक जो बातें असम्भव लगती थीं, वे आज वैज्ञानिकों के अथक परिश्रम के कारण सम्भव हो गई हैं। तात्पर्य यह है कि अगर सच्ची लगन, कठोर परिश्रम, आत्मविश्वास और श्रद्धा हो तो कोई कठिनाई शूर-वीर व्यक्ति के आड़े नहीं आ सकती। निष्काम कर्मयोग तो गीता के संदेश का सार ही है-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेद अकर्मणः॥

### [ गीता III, 8 ]<sup>3</sup>

अर्थात् कर्म अकर्म से श्रेष्ठतर है। अकर्मण्य व्यक्ति के लिए तो शरीर तक को बनाये रखना भी संभव नहीं होता। कहा भी जाता है कि उद्योग, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम ये छः गुण मानव सफलता की चाभी हैं।

हमारे दुःख का एकमात्र कारण यह है कि हम आसक्त हैं, हम बँधते जा रहे हैं। इसलिए गीता में कहा गया है- “निरन्तर काम करते रहो, पर आसक्त मत होओ, बन्धन में मत पड़ो; प्रत्येक वस्तु से अपने आप को

स्वतन्त्र बना लेने की शक्ति स्वयं से संचित रखो। दुर्बल मत बनो। दुर्बलता से मनुष्य सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का शिकार हो जाता है।

### [विवेक ज्योति; 2 फरवरी 2016, पृष्ठ 56]

गीता के श्लोक II/47 से हमें कुछ अंश तक अनासक्ति की शिक्षा भी मिलती है। यह श्लोक सामाजिक हित और मानवीय विकास का भाव प्रस्तुत करता है। तात्पर्य यह है कि मेरे प्रयासों द्वारा किये गये कार्यों का लाभ मिलने वालों में एक मैं हूँ, दूसरे लाभान्वित होने वाले का भी ध्यान रखना चाहिए। यह विस्तृत विश्व हमारे चारों तरफ है। बिना हमारे चारों ओर के मानवीय विश्व के हम मनुष्य नहीं बन सकते। अतः इस श्लोक में कार्य का जो भाव है वह सामाजिक हित और मानवीय विकास का भाव भी प्रस्तुत करता है।

गीता के दो महान् संदेश उसके अध्याय VI/5 और VI/6 में परिलक्षित होते हैं; ‘स्वयं को स्वयं द्वारा ऊपर उठाओ और अपने पर अवसाद मत आने दो’, क्योंकि तुम ही तुम्हारे मित्र हो और तुम ही तुम्हारे शत्रु-

उद्धरदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

### [ गीता, VI/5 ]

वास्तव में मनुष्य के अन्दर एक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने कष्टों के लिए दूसरों को उत्तरदायी बना देता है। इसके विपरीत भी सम्भव है। यदि किसी व्यक्ति को कोई कष्ट भी देता है और यदि वह व्यक्ति उस कष्ट को अपने मस्तिष्क में नहीं बैठाता है, तो उसको कभी कष्ट न होगा। किन्तु यदि वह व्यक्ति उस कष्ट को अपने मस्तिष्क में बैठाकर स्वीकार कर लेता है तो इससे उसे अवश्य ही कष्ट होगा। अतः मनुष्य को किसी के द्वारा दिये गये कष्ट को स्वीकारना नहीं चाहिए। उसे अपने से दूर ही रखने का प्रयास करना चाहिए। ऐसा करने से उसे कदापि कष्ट न होगा। परन्तु मनुष्य के अन्दर एक विलक्षण प्रकृति होती है। वह स्वयं से प्रश्न करने लगता है-” वह अपना मित्र हो सकता है किन्तु वह अपना शत्रु कैसे हो सकता है।” गीता द्वारा इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है-

बन्धुः आत्मात्मनः तस्य येन आत्मा एव आत्मना जितः।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

[ गीता, VI/6 ]

अर्थात् जब किसी ने स्वयं को जीत लिया है तो वह अपना मित्र होता है, लेकिन जिसने अपने को नहीं जीता है, वह स्वयं अपना शत्रु होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जब कोई व्यक्ति अपने ऐन्द्रिय तंत्र तथा मनोवैज्ञानिक तंत्र को अनुशासित कर लेता है, तब वह अपना मित्र बन जाता है। परन्तु यदि वह अपने ऐन्द्रिय तंत्रों को उन्हीं पर छोड़ देता है, उन्हें प्रशिक्षित या अनुशासित नहीं करता, तब वह व्यक्ति अपने स्वयं का शत्रु बन जाता है। तात्पर्य यह है कि अपने चरित्र के विकास हेतु किसी अन्य पर दोशारोपन की प्रवृत्ति से बचना चाहिए।

गीता को उपनिषदों का सार कहा जाता है। परन्तु गीता की बात उपनिषदों से भी विशेष है। वेदों को भगवान का निःश्वास कहा जाता है और गीता भगवान की वाणी कही जाती है। निःश्वास तो स्वाभाविक होते हैं। पर गीता भगवान ने योग में स्थित होकर कहीं है-

न भाक्तयं तन्मया मूयस्तथा वक्तुमशेषतः।

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया॥

[ महाभारत आश्व 16/12-13 ]<sup>4</sup>

अतः वेदों की अपेक्षा भी गीता विशेष है। सभी दर्शन गीता के अन्तर्गत हैं, पर गीता किसी दर्शन के अन्तर्गत नहीं है। गीता में किसी मत का आग्रह नहीं है; केवल जीवन के कल्याण का ही आग्रह है। गीता अपने साधकों को समग्रता की शिक्षा देती है। भगवान के समग्र रूप में कोई भी रूप शेष नहीं रहता। सम्पूर्ण गीता की यही मूल भावना है।

जिस तरह सभी दर्शन धर्म का अतिक्रमण करते हैं, वैसे ही गीता भी 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' की घोषणा के साथ धर्म का अतिक्रमण करते हुए जीवन को परिभाषित एवं प्रकाशित करती है। तभी तो धर्म की सीमाएं किसी के गीता-प्रेम में बाधक नहीं बन सकी। धर्म को व्यापकता में विलिन करने वाले ऐसे ही एक गीता-प्रेमी हुए हैं- पंडित मौलाना डा० बशीरुद्दीन शाहजहांपुरी। [ अखण्ड ज्योति; अंक 7, जुलाई, 2015, पृष्ठ 6 ]<sup>5</sup>। उनका कहना था कि गीता जैसी पवित्र ग्रन्थ में वे सभी तत्त्व और सत्य है जो मानव जीवन का सम्यक् ज्ञान कराते हैं।

**निष्कर्ष:**

प्रायः धर्म ग्रन्थों पर बहस नहीं होती पर गीता पर बहस होती है। बहस होनी भी चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण गीता श्री कृष्ण और अर्जुन के बहस पर ही आधारित है। गीता, जीवन और जीवन के दर्शन का ग्रन्थ है, जिसका कोई पंथ या मजहब नहीं होता। इसमें भारतीय दर्शन की सभी धाराएँ सम्मिलित की गई हैं। इसीलिए इस ग्रन्थ को भारतीय संस्कृति का जीवन-ग्रन्थ कहना उचित होगा। चूँकि यह ग्रन्थ राष्ट्र की सभी सीमाओं से परे, विश्व मानव की धरोहर के रूप में स्थित है। अतः इसे विश्व ग्रन्थ भी कहा जाना चाहिए।

**संदर्भ ग्रन्थ सूची:**

1. गीता II, 49
2. गीता III 7
3. गीता III, 8
4. महाभारत आश्व 16/12-13
5. अखण्ड ज्योति; अंक 7, जुलाई, 2015, पृष्ठ 6

